परिशिष्ट – दो

हम सबकी चिंता

जल संचय और प्रबंधन का चलन हमारे यहां सदियों पुराना है। राजस्थान में खडीन, कुंड और नाडी, महाराष्ट्र में बंधारा और ताल, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में बंधी, बिहार में आहर और पइन, हिमाचल में कुहल, तमिलनाडु में इरी, केरल में सुरंगम, जम्मू क्षेत्र के कांडी इलाके में पोखर, कर्नाटक में कट्टा पानी को सहेजने और एक से दूसरी जगह प्रवाहित करने के कुछ अति प्राचीन साधन थे जो आज भी इस्तेमाल में हैं। पारंपरिक व्यवस्थाएं उस क्षेत्र की पारिस्थितिकी और संस्कृति की विशिष्ट देन होती हैं, जिनमें उनका विकास होता है। वे न केवल काल की कसौटी पर खरा उतरी हैं, बल्कि उन्होंने स्थानीय जरूरतों को भी पर्यावरण से तालमेल रखते हुए पूरा किया है। आधुनिक व्यवस्थाएं जहां पर्यावरण का दोहन करती हैं, उनके विपरीत ये प्राचीन व्यवस्थाएं पारिस्थितिकीय संरक्षण पर जोर देती हैं। पारंपरिक व्यवस्थाओं को अनंत काल से साझा मानवीय अनुभवों से लाभ पहुंचता रहा है और यही उनकी सबसे बड़ी ताकत है।

भारत में बारिश बहुत ही मौसमी होती है। देश में कुल वार्षिक बारिश 1,170 मिमी. होती है, वह भी केवल तीन महीनों में। देश के 80 प्रतिशत हिस्से में इस बारिश का 80 फीसदी भाग इन्हीं तीन महीनों में गिरता है। बरसात के मौसम में पूरी बारिश 200 घंटे होती है और इसका आधा हिस्सा 20-30 घंटों में होता है। परिणामत: बारिश का बहुत ज्यादा पानी बेकार बह जाता है। भारी बारिश के दौरान नदियों के बांध भी वहां से बह जाने वाले पानी का मात्र 20 फीसदी या उससे भी कम जमा कर पाते हैं। बाकी 80 फीसदी पानी भी बिना उपयोग के बह जाने दिया जाता है, ताकि बांध को क्षति न पहुंचे।

जल संचय का सिद्धांत यह है कि बरसात के पानी को स्थानीय जरूरतों और भौगोलिक स्थितियों के हिसाब से संचित किया जाए। इस क्रम में भूजल का भंडार भी भरता जाता है। जल संचय की पारंपरिक प्रणालियों से लोगों की घरेलू और सिंचाई संबंधी जरूरतें पूरी होती रही हैं। उपलब्ध ऐतिहासिक और पुरातात्विक प्रमाणों से पता चलता है कि ई.पू. चौथी शताब्दी से ही देश के कई क्षेत्रों में छोटे-छोटे समुदाय जल संचय और वितरण की कारगर व्यवस्था करते रहे हैं। नंद के शासन में (363-321 ई.पू.) शासकों ने नहरें और समुदाय पर निर्भर सिंचाई प्रणालियां बनाईं। मध्य भारत के गोंड शासकों ने सिंचाई और जल आपूर्ति की न केवल बेहतर प्रणालियां बनाईं, बल्कि उनके रखरखाव के लिए आवश्यक सामाजिक और प्रशासनिक व्यवस्थाएं भी विकसित की थीं।

संभव है कि प्राचीन समय की इन जल संचय प्रणालियों से पानी का समान बंटवारा न होता हो। लेकिन इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि इन पारंपरिक प्रणालियों के सामुदायिक प्रबंधन के कारण हर व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी होती थीं।

सभी पारंपरिक प्रणालियां छोटी नहीं थीं। शहरों की जरूरतों को पूरा करने के लिए बड़ी प्रणालियां भी बनाई जाती थीं। लेकिन छोटी प्रणालियों के साथ इनका तालमेल होता था, जैसा कि चोल काल (930-1200 ई.) और मध्यकालीन विजयनगर में दिखता है। प्राचीनता का गुणगान किए बिना कहा जा सकता है कि पानी आपूर्ति और पूंजी पर लाभ के लिहाज से पारंपरिक प्रणालियां तब भी ज्यादा कारगर थीं और आज भी हैं। ये प्रणालियां इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं कि सूखे या अकाल के लंबे दौर में भी इन्होंने समुदायों को जीवनदान दिया है। लेकिन कभी-कभी जब वर्षों तक बारिश नहीं होती थी तो छोटी प्रणालियां नाकाम हो जाती थीं। इससे बड़ी प्रणालियों की जरूरत बन आती। लेकिन छोटी और बड़ी प्रणालियों के बीच संतुलन सावधानी के साथ बनाए रखा जाता। यह तब तक नहीं हो सकता जब तक प्रणालियों के नियोजन और क्रियान्वयन में ग्रामीण और शहरी दोनों समुदाय भाग नहीं लेते। इस

तरह, अतीत हमें भविष्य के लिए सबक देता है।

लोग 'आधुनिक' प्रणाली चाहते हैं, क्योंकि जब घर में नल खोलते ही पानी आ सकता है तो कुएं या तालाब से पानी लाने के लिए पैदल चलना कौन चाहेगा। इसी तरह सिंचाई के लिए पंपसेट का बटन दबाते ही या बांध का दरवाजा खोलते ही पानी पाना हर कोई चाहेगा। लेकिन जब नल सूखता है और बांध में मिट्टी भरने लगती है और आधुनिक प्रणालियां नाकाम होने लगती हैं तब लोगों को पारंपरिक प्रणालियों की सुध आती है। देश का बड़ा हिस्सा ऐसा भी है जहां आधुनिक प्रणालियां भारी लागत की वजह से पहुंच ही नहीं सकतीं। इस हिस्से में लोग पीने के पानी और सिंचाई के लिए पारंपरिक प्रणालियों पर ही निर्भर हैं। आधुनिक प्रणालियों के साथ दूसरी समस्या यह है कि इन्होंने सरकार पर ग्रामीण समुदायों की निर्भरता बढ़ा दी है और सरकारी एजेंसियां लोगों की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने में अक्सर विफल रहती हैं। चुनाव करीब आते ही पाइप बिछने लगते हैं, मगर उनमें पानी कभी नहीं आता।

पारंपरिक प्रणालियों का मतलब पुराना, जर्जर ढांचा नहीं है। ये प्रणालियां सरकार द्वारा नियंत्रित, पूंजीखोर प्रणालियों से भिन्न हैं। आधुनिक प्रणालियां ऊंची लागत वाली तो होती ही हैं, पर्यावरण के संदर्भ में भी बड़ी कीमत वसूलती हैं। इनसे मिले पानी का उपयोग आम तौर पर मौसम के अनुकूल खेती के बुनियादी मानदंडों के विपरीत होता है। नलकूपों से भारी मात्रा में भूजल निकाला जा रहा है। कई सरकारी एजेंसियां यह नहीं समझतीं कि वे जिन स्रोतों से पानी खींच रही हैं, उनका पारिस्थितिकीय महत्व क्या है। वे यह मानकर चलती हैं कि इन स्रोतों से निरंतर पानी मिलता रहेगा। आधुनिक प्रणालियों का सामाजिक-राजनैतिक प्रभाव भी नकारात्मक रहा है। समुदाय पर आधारित पारंपरिक प्रणालियां सामाजिक समरसता और आत्मनिर्भरता को भी बल देती हैं। इनमें फैसले करने का अधिकार अक्सर व्यक्तियों, समूहों या स्थानीय समुदायों को दिया जाता था, जो साथ मिलकर काम कर रहे होते थे। इससे आर्थिक स्वाधीनता बढ़ती थी और नीचे के स्तर पर स्थानीय संसाधनों का पूरा-पूरा इस्तेमाल होता था। पारंपरिक प्रणालियों में सस्ती, आसान तकनीक का प्रयोग होता था जिसे स्थानीय लोग भी आसानी से कारगर बनाए रख सकते थे। आधुनिक प्रणालियों ने समुदायों को तोड़ दिया और सरकार पर निर्भरता बढ़ा दी। समस्या तब और बढ़ गई जब बाजार के सिद्धांतों पर चलने वाली आधुनिक प्रणालियां वितरण के मोर्चे पर कच्ची साबित हुईं। इनसे बहुसंख्य लोगों की कीमत पर कुछ लोगों को लाभ पहुंचाया जाता है। भ्रष्ट सरकारी एजेंसियां अक्सर आधुनिक प्रणालियों को दुरुस्त रखने में विफल रहती हैं।

पानी आर्थिक विकास का बड़ा साधन है। जल संसाधनों का अगर समतामूलक, समुदाय आधारित और व्यावहारिक ढंग से विकास करना है तो पारंपरिक प्रणालियों में जान डालनी होगी, उनका विकास करना होगा।

1 पारंपरिक प्रणालियों का पतन

देश के अधिकांश भागों में पारंपरिक जल संचय की प्रणालियां मृतप्राय हैं, उन्हें तिरस्कृत कर दिया गया है और अधिकांश को खत्म भी कर दिया गया है। आजादी के बाद से इस ह्रास में और तेजी आई है, जबकि साफ दिखता है कि जल आपूर्ति और प्रबंधन की मौजूदा केंद्रीकृत व्यवस्था अधिसंख्य लोगों की जरूरतें पूरी करने में विफल रही है। देश में करीब पांच लाख तालाब हैं जिनका उपयोग मुख्यत: सिंचाई के लिए होता है। जंगल कटाई के कारण इनके जल ग्रहण क्षेत्रों में मिट्टी जमने और उनकी हालत खराब होने के परिणामत: ये तालाब उपयोग के योग्य नहीं रह गए हैं और भूजल के भंडार भी प्रभावित हुए हैं। कई इलाकों में रिसने वाले तालाबों की बदहाली और तालाबों के अंदर भी अतिक्रमण से भूमिगत जल का स्तर नीचे गया है और पीने का पानी देने वाले कुएं सूखे हैं।

पारंपरिक प्रणालियों के पतन के लिए जिम्मेदार कुछ कारण ये हैं-

- आबादी में वृद्धि और पानी की बढ़ती मांग, जिसे पारंपरिक तकनीक और प्रणालियों से पूरा नहीं किया जा सकता। जलागार और नहरों जैसी केंद्रीकृत भंडारण व्यवस्थाओं के जरिए पानी आपूर्ति की आधुनिक और ज्यादा आसान प्रणाली पर सरकारी बल के कारण पारंपरिक प्रणालियों का विस्तार तो रुका ही, उपलब्ध प्रणालियां उपेक्षित होकर बदहाल होती गईं।
- केंद्रीकृत आधुनिक प्रणालियां शुरू में इस विश्वास के साथ लागू की गईं कि इनसे लोगों को ज्यादा आसानी से ज्यादा पानी मिलेगा। लेकिन कुछ वर्षों में सरकार इन विशाल, जटिल और महंगी प्रणालियों में ज्यादा ही दिलचस्पी लेने लगी, जो इन संसाधनों पर उसके एकाधिकार को सुनिश्चित करती है और यह बड़े पैमाने पर इनके दुरुपयोग को बढ़ावा देता है;
- मौजूदा प्रणालियों के रखरखाव जैसे छोटे मामलों के लिए भी शासन-तंत्र पर बढ़ती निर्भरता, और भूमि तथा जल संसाधनों से जुड़े कानूनों के मार्फत सरकारी एजेंसियों को मिले अधिकार, जो इन संसाधनों पर उनका पूर्ण नियंत्रण स्थापित करते हैं और इनके भारी दुरुपयोग को बढ़ावा देते हैं।
- व्यक्तियों को लाभ पहुंचाने वाली योजनाओं को सरकारी प्रोत्साहन और इसके साथ ही पारंपरिक प्रणालियों के रखरखाव में सक्रिय सामुदायिक भागीदारी में गिरावट।
- खेती का व्यवसायीकरण और स्थानीय जलवायु के लिए प्रतिकूल नकदी फसलों की व्यापक खेती, जो अल्पकालिक लाभ तो देती हैं, मगर दीर्घकालिक रूप से गंभीर समस्याएं पैदा करती है।
- निजी स्तर पर तुरंत लाभ की उम्मीद, जिससे सामुदायिक सहकारिता में आम तौर पर गिरावट आती है।
- वितरण व्यवस्था में परिवर्तन और भूमि तथा सामुदायिक संसाधनों का स्वामित्व चंद हाथों में सिमटना।
- सरकार द्वारा प्रायोजित संस्थानों का उभरना, जो मुख्यत: भूमि-केंद्रित थे; जबकि जल संचय की पारंपरिक व्यवस्थाएं भूमि को पानी के संदर्भ में देखती थीं और पानी केंद्रित परिप्रेक्ष्य रखती थीं।
- उपनिवेश-काल में निवेश की जो पद्धति बनी उसमें कोई परिवर्तन नहीं। इससे सिंचाई की छोटी प्रणालियों की उपेक्षा हुई।
- पानी को पर्यावरण के व्यापक प्रबंधन की देन के रूप में देखने में सरकारी एजेंसियों की असमर्थता।

पारंपरिक प्रणालियों को पुनर्जीवित करने की आधुनिक कोशिशों को इन प्रणालियों के पतन के कारणों की समझ के साथ आगे बढ़ाना होगा। यह देखना होगा कि उन्हें पुनर्जीवित करने की परिस्थितियां आज हैं या नहीं। अगर उन्हें सहारा देने वाला 'समुदाय' ही नहीं है तो उनके लिए ढांचा खड़ा करना भी बेमानी होगा। इसलिए पहले तो उस 'समुदाय' को फिर से तैयार करने की कोशिश करनी होगी। इसके अलावा, कुछ व्यवस्थाओं में सामाजिक विरोधाभास इस हद तक पैदा हो गए कि ये व्यवस्थाएं चरमरा गईं। इन विरोधाभासों पर सावधानी से गौर करना होगा।

जल संचय की कुछ व्यवस्थाएं जाति आधारित थीं। अंग्रेजों की नीतियों ने जाति व्यवस्था को और मजबूत किया। जाति आधारित संस्थाएं उत्पीड़न और वर्चस्व स्थापित करने का औजार बन गईं। अंग्रेजों ने सरकारी खजाना भरने के लिए समुदायों को तोड़ा। समुदाय आधारित व्यवस्थाएं केंद्रीकृत शासन के ब्रिटिश मॉडल के विपरीत पड़ती थीं। शायद इन्हीं कारणों से तमिलनाडु में जल संचय प्रणालियों का पतन हुआ। दूसरी ओर हिमाचल में और जम्मू-कश्मीर में 'कुहल' जैसी पारंपरिक प्रणालियां सफल हुईं, क्योंकि इनके निर्माण और रखरखाव में लोग स्वत: श्रम और धन का योगदान देते थे।

प्रणाली का आकार भी निर्णायक भूमिका निभाता था। उनका आकार प्राय: छोटा ही रखा जाता था ताकि समुदाय अपनी पूंजी, अपने श्रम और तकनीकी ज्ञान के बूते उन्हें आसानी से संभाल सके। यह उन आधुनिक प्रणालियों के ठीक विपरीत है जो भारी सरकारी कोष और नौकरशाही के तामझाम के बिना काम नहीं कर सकतीं।

एक के बाद एक आई सरकारें भूमि पर उपलब्ध जल से जुड़ी बड़ी प्रणालियों को बढ़ावा देती रही हैं, जिनका नियोजन और प्रबंधन गैर-जवाबदेह नौकरशाही करती है; जबकि निजी मिल्कियत और प्रबंधन वाले कुओं की व्यवस्था भी बहुत मुश्किल से हो पाती है, क्योंकि उनको कहीं से संसाधन नहीं मिलते। शासन की इन नीतियों से समुदाय पर निर्भर उन संस्थाओं का महत्व घटा है, जो पारंपरिक जल संचय व्यवस्थाओं से जुड़ी रही हैं। इससे इस जरूरत के महत्व को भी नहीं समझा जा सका है कि पानी की कमी वाले इलाकों में सतह और भूजल का संयोजित प्रबंधन होना चाहिए। इन बड़ी प्रणालियों के मामले में इस 'नीति' का लाभ सिंचाई विभागों, ठेकेदारों, नेताओं, बड़े किसानों को मिला है और कुओं के मामले में बड़े किसानों को तथा सहायता पर आधारित कार्यक्रमों के प्रभारियों को मिला है। घाटा समुदाय आधारित संगठनों, खासकर गरीबों, को हुआ है और समुदाय आधारित प्रबंधन को।

राष्ट्रीय नीति लघु जल संचय प्रणालियों को बढ़ावा देने वाली होनी चाहिए। ये नीतियां प्राकृतिक संसाधनों के सामुदायिक प्रबंधन पर निर्भर होनी चाहिए और उसे बढ़ावा देने वाली भी। इससे सरकार को भी मदद मिलेगी और लोगों की बुनियादी जरूरतें भी पूरी होंगी। आखिर ये हमारी विरासत का हिस्सा हैं।

दरअसल, पारंपरिक प्रणालियों के प्रबंधन से मिले सबक को भारत में बड़ी नहरों और भूजल प्रणालियों सहित जल संबंधी हर नियोजन, डिजाइन और प्रबंधन में लागू करना चाहिए। पानी और प्राकृतिक संसाधनों के नियोजन और प्रबंधन में समुदाय आधारित संचालन से शुरुआत की जा सकती है। इसके लिए निर्णय की वर्तमान प्रक्रिया को उलटना होगा।

कर्नाटक के प्राय: हर गांव या पुरवे में पुराने ऐतिहासिक मंदिर हैं जिनके साथ प्राय: 'कल्याणी' (पोखर) भी हैं। आज ये पोखर पूरी तरह उपेक्षित पड़े हैं और खस्ताहाल हैं। इन अधिकांश तालाबों का संचालन राज्य सरकार के सिंचाई विभाग ने अपने हाथ में ले लिया है। कुछ छोटे तालाब स्थानीय न्यासियों के निष्क्रिय बोर्डों के अधीन हैं। दुर्भाग्य से इन पोखरों का रखरखाव उनकी अंतिम प्राथमिकता बन गई है। सिंचाई विभाग या बोर्ड को मंदिर की आय का अच्छा हिस्सा प्रतिवर्ष इन पोखरों की सफाई और रखरखाव के लिए देना चाहिए।

बंगलूर, मैसूर जैसे कई शहरों में भी पुराने विशाल तालाब थे। उन्हें सुखाया जा रहा है और व्यावसायिक लाभ के लिए भरा जा रहा है। ताजा उदाहरण बंगलूर के कोरमंगला झील का है जिसे राष्ट्रीय खेलों के लिए आवासीय परिसर बनाने के लिए सुखा दिया गया।

दूसरी ओर पक्की सड़कों ओर मैदानों को पक्का किए जाने से बरसात में पानी के प्राकृतिक बहाव में भारी कमी आ रही है।

1 पारंपरिक तकनीकें

जल संचय परंपराएं, खासकर समुदाय आधारित, कम बारिश वाले शुष्क क्षेत्रों में सबसे मजबूत थीं। इन क्षेत्रों की स्थलाकृति ऐसी रही है जिससे सतह पर जल भंडारण संभव होता रहा है। दूसरी ओर, पहाड़ी इलाकों की बनावट लघु जल बहाव प्रणालियों के लिए अनुकूल रही है।

पारंपरिक जल संचय प्रणालियों की तकनीक में पिछड़ापन जैसी कोई बात नहीं है। वे न केवल प्रासंगिक हैं, बल्कि जरूरी भी हैं और कई मामलों में बेहद महत्वपूर्ण भी। जब सरकार ने ज्यादा सुविधाजनक प्रणाली लागू की तो इनमें से कुछ प्रणालियों की उपेक्षा कर दी गई। लेकिन आधुनिक प्रणालियों की असफलता के कारण पारंपरिक प्रणालियों को पुनर्जीवित करने की कोशिशें होने लगी हैं। कई कारणों से ये कोशिशें सफल नहीं हो पाई हैं। इनमें एक है नौकरशाही का विरोध। इन प्रणालियों के बारे में कोई निश्चित नीति नहीं है। ऐसी कुछ कोशिशों को सरकार का समर्थन मिल रहा है, मगर अधिकांश को निहित स्वार्थ निष्फल कर रहे हैं।

स्थानीय विशिष्टताओं का ख्याल किए बिना जल संबंधी आधुनिक तकनीक प्राय: पश्चिम से आयात की गई है। पिछले 50 वर्षों में जल संसाधन के विकास पर इस नई तकनीक का भारी प्रभाव पड़ा है। नहरों, बड़े बांधों और जलागारों के बड़े पैमाने पर विकास से भारतीय कृषि को भारी बढ़ावा मिला है। लेकिन इससे 30 फीसदी आबादी को ही लाभ पहुंचा है और इनके कारण गंभीर समस्याएं पैदा होने लगी हैं। दूसरे अभी भी वर्षा आधारित कृषि और जल संरक्षण तथा संचय की पारंपरिक प्रणालियों का ही प्रयोग कर रहे हैं। दरअसल, इनमें से कुछ प्रणालियां तो तकनीक का चमत्कार हैं। इनमें आधुनिक इंजीनियरों द्वारा प्रयुक्त नफीस उपकरणों या तकनीक का प्रयोग नहीं होता, लेकिन पानी मुहैया कराने के मामले में ये आधुनिक प्रणालियों के मुकाबले ज्यादा विश्वसनीय और टिकाऊ हैं। स्थानीय सामग्रियों और श्रम का तो इनमें उपयोग होता ही है, पर्यावरण का भी ये इस खूबी से उपयोग करती हैं कि कई पीढ़ियों तक लोगों की जरूरतें पूरी करती रहें।

1 आगोर

पारंपरिक प्रणालियां अपने पर्यावरण से आम तौर पर समग्र रूप से और स्वभावत: जुड़ी होती हैं। पारंपरिक प्रणालियों के जल ग्रहण क्षेत्र—गांव की साझा जमीन—की देखभाल स्थानीय समुदाय करते थे और गांव की कई तरह की जरूरतें इसी से पूरी होती थीं। इनमें कुछ महीनों में पशु चराने, शौच के लिए इनके उपयोग या जानवरों की लाशों को यहां डालने पर सामाजिक तौर पर प्रतिबंध लगा होता था। पूरे समुदाय को पता होता था कि जल ग्रहण क्षेत्र या तालाब के पाल पर अतिक्रमण किया गया तो जल संचय व्यवस्था मर जाएगी। अगर पारंपरिक प्रणालियों के जल ग्रहण क्षेत्रों का ठीक से रखरखाव किया गया और जहां संभव हो वहां नई प्रणाली बनाई गई तो उनसे बड़ी आबादी की जल संबंधी जरूरतें पूरी हो सकेंगी। आधुनिक जल प्रबंधन व्यवस्थाएं जल ग्रहण क्षेत्रों के रखरखाव को जल प्रबंधन में शामिल करने में विफल रही हैं।

1 पारंपरिक बनाम आधुनिक

पारंपरिक जल संचय व्यवस्था आज की जरूरतों को पूरा करने में शायद पूरी न पड़े। कई इलाकों में इस व्यवस्था को हमेशा के लिए

नष्ट कर दिया गया है। इसलिए पारंपरिक और लघु, साथ ही बड़ी और आधुनिक प्रणालियों के उपयुक्त मेल की जरूरत है। लेकिन पारंपरिक जल संचय प्रणालियों पर ज्यादा जोर देने की जरूरत है, जो बारिश के एक बूंद को भी बरबाद नहीं जाने देतीं। पहली प्राथमिकता लघु, स्थानीय पारंपरिक प्रणालियों को देनी चाहिए। इन प्रणालियों से बाकी बचे पानी का ही उपयोग बड़ी प्रणालियों में करना चाहिए। बड़ी, आधुनिक प्रणालियां सिद्धांतत: तकनीकी रूप से पारंपरिक प्रणालियों के समान ही हैं। नहरें आखिर लंबे कुहल ही हैं। बांध से बने जलाशय विशाल तालाब जैसे हैं। लेकिन प्रणाली के रखरखाव और उपयोगिता के मामले में उनका आकार समुदायों के लिए काफी फर्क कर देता है। भारत के बड़े भाग में सामाजिक और आर्थिक स्थितियां ऐसी हैं कि केवल पारंपरिक प्रणालियां उपयुक्त हो सकती हैं। सरकारी उपायों की निरंतर विफलता से यह धारणा मजबूत हो रही है। फिर, पारंपरिक और आधुनिक प्रणालियों के चयन में केवल प्रकट कारणों को आधार नहीं बनाना चाहिए। मिट्टी और पानी संरक्षण जैसे अमूर्त लाभों का भी ख्याल रखना चाहिए।

सुधार जरूरी

तकनीकी लिहाज से पारंपरिक प्रणालियां अच्छी हैं। काल की कसौटी पर वे खरा उतरी हैं। इसलिए उनमें अनुसंधान और विकास के जरिए कोई सुधार तब तक नहीं हो सकता जब तक उन्हें अच्छी तरह समझ नहीं लिया जाता। वरना आधुनिक वैज्ञानिकों और प्रबंधकों के सुझाव लाभदायी नहीं होंगे। आधुनिक प्रबंधकों ने पारंपरिक प्रणालियों में कम ही दिलचस्पी ली है। उन्हें शुरू में एक छात्र की तरह उनमें रुचि लेनी चाहिए। तकनीक परिवर्तन उतना ही किया जाए जितना जरूरी और अपेक्षित हो और वह भी साझा अनुसंधान के सिद्धांतों पर स्थानीय समुदायों से गहन विचार-विमर्श के बाद।

जल संबंधी अधिकार

पारंपरिक जल संचय प्रणालियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लोगों को इन्हें बनाने और इनका प्रबंधन करने का अधिकार है। देश में इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं, ऐतिहासिक तौर पर भी, कि बड़ी प्रणालियों के निर्माण और मरम्मत में शासन का आर्थिक योगदान भले होता था मगर नीचे के स्तर पर वितरण और रखरखाव की जिम्मेदारी स्थानीय समुदायों को ही सौंपी जाती थी। चोल राज (930-1200 ई.)के अधिकारी ग्रामीण मामलों में सलाहकार और पर्यवेक्षक के रूप में भाग लेते थे, न कि प्रशासक के रूप में।

अधिकारों और प्रबंधन की इन अधिकांश व्यवस्थाओं को अंग्रेजों ने शायद गफलत में अछूता छोड़ दिया। कई मामलों में समुदाय अपने लोगों को जरूरत के आधार पर पानी तक पहुंच की समान छूट देता था। मसलन, उत्तर प्रदेश के कुमाऊं के पहाड़ी क्षेत्र में हरेक को पानी के उपयोग के समान अधिकार प्राप्त थे। सिंचाई प्रणालियों के निर्माण और रखरखाव का सभी जातियों, समुदायों और व्यक्तियों को समान अधिकार हासिल था। 1975 में हुए कानूनी बदलावों के बाद सभी जल स्रोतों पर व्यक्तियों और ग्रामीण समुदायों के अधिकार छीनकर सरकार को दे दिए गए। जम्मू-कश्मीर में कई पारंपरिक कुहल सरकार ने अपने हाथ में ले लिए, लेकिन उनका रखरखाव न कर सकी और वे पूरी तरह नष्ट हो गए। इससे ग्रामीण समुदायों को भारी कठिनाई का सामना करना पड़ा। केरल में भी साठ के दशक में बिजली वाले पंपसेटों के कारण पानी पर व्यक्तियों के अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इस तरह कई उपायों से राज्यतंत्र ने व्यक्तियों और समुदायों के अधिकारों को हड़पकर उन पर अपनी नीतियां थोप दी हैं। इस तरह पारंपरिक प्रणालियों से मिलने वाले लाभों में कमी के कारण लोगों में उदासीनता आ गई है। पहले भी ऐसा हुआ था, पर इतिहास बताता है कि ऐसा करने वाली सरकारें खुद ही ढह गईं।

जम्मू-कश्मीर से नगालैंड तक देश के विभिन्न भागों में पानी संबंधी पारंपरिक अधिकारों के अध्ययन की ओर जहां आवश्यक व उपयुक्त हो, उन्हें पुन:प्रतिष्ठित करने की जरूरत है। मसलन, जम्मू-कश्मीर में पारंपरिक नियम के मुताबिक, पहाड़ी नदी के बहाव के रास्ते में ऊपर स्थित गांवों को उसके पानी के पहले उपयोग का अधिकार था। राज्य में यह नियम अच्छी तरह प्रचलित है और पारंपरिक अधिकारों का पूरा सम्मान किया जाता है।

फिलहाल, जल संबंधी अधिकार पर भारी विवाद है। बहते पानी पर विवाद मुकदमेबाजी और हिंसा तक में बदल जाता है। सरकारी एजेंसियां सभी बड़ी नदियों पर एकाधिकार जमा लेती हैं, जबकि भूजल को कोई भी खींचकर उपयोग या बरबाद कर सकता है। जल संबंधी ऐसे अधिकार बनाने की जरूरत है ताकि अधिकतम जल संचय और उसके समान तथा मितव्ययी उपयोग को बढ़ावा मिले। अगर पारंपरिक प्रणालियों को पुनर्जीवित करना है तो जल या संसाधनों के प्रबंधकों-नियोजकों के सामने सबसे अहम मुद्दा जल स्रोतों पर समुदायों के अधिकारों को परिभाषित और बहाल करने और शासन के हस्तक्षेप को रोकने का है। जमीन की तरह पानी के उपयोग की भी हदबंदी करने की जरूरत है ताकि उसका समान बंटवारा हो सके। जमीन और पानी दोनों से संबंधित अधिकारों को एक समान नजरिए से देखने की जरूरत है। लेकिन इन हदबंदियों को लागू करने की कार्यशैली तय करने का जिम्मा समुदायों को ही सौंप देना चाहिए। गहन विचार-विमर्श के बाद जल संबंधी अधिकारों को संविधान में शामिल कर दिया जाना चाहिए। सामान्य सिद्धांत के रूप में, सभी जल संसाधनों का नियोजन और विकास इस तरह होना चाहिए कि वह समतामूलक और सबकी पहुंच में हो—चाहे कोई किसी समुदाय, जाति, नस्ल या लिंग का क्यों न हो। चूंकि इसका अर्थ है जल को साझा संपत्ति मानना, इसलिए इससे संबंधित अधिकारों को साझा संपत्ति वाले अधिकार मानना होगा।

व्यक्तिगत अधिकार

व्यक्तियों और घरों को अधिकार होना चाहिए कि उनके घर, जायदाद या जमीन पर पड़ने वाली बारिश के पानी को जैसे चाहें जमा करें और उपयोग करें। लेकिन उन्हें समुदाय की अनुमति के बिना भूमिगत स्रोतों, नदी या झरने या सोतों से, जो निजी स्वामित्व वाली जायदाद की सीमा से बाहर के जल ग्रहण क्षेत्रों पर निर्भर हैं, पानी खींचने का अधिकार नहीं होना चाहिए। यह अधिकार बहते जल के संचय को बढ़ावा देगा। संचित वर्षा जल का उपयोग इस तरह किया जाना चाहिए कि दूसरों के इन्हीं अधिकारों का किसी तरह उल्लंघन न हो, भूजल भंडार प्रभावित न हो और जल स्रोतों का प्रदूषण न हो।

सामुदायिक अधिकार

पानी पर स्थानीय समुदायों के पारंपरिक अधिकार बहाल किए जाएं। ग्राम पंचायत, ग्राम सभा, पानी पंचायत या नगरपालिका जैसी उपयुक्त संस्था के जरिए स्थानीय समुदायों को समुदाय की साझा जमीन पर गिरने वाले वर्षा जल, स्थानीय जलभरों, निजी संपत्ति या सरकारी

जमीन से बचे अतिक्ति पानी पर पूर्ण अधिकार हासिल हो। इस अधिकार का उपयोग समुदाय का हरेक सदस्य कर सके और हरेक लाभ तथा लागत के मामले में बराबर का साझीदार हो। लागत का बंटवारा दो तरह से किया जा सकता है—समान लाभ और समान भुगतान या भुगतान की क्षमता के सिद्धांत पर। यह तय करने का अधिकार समुदाय को होना चाहिए।

दक्षिण भारत में तालाब के कमांड क्षेत्र में स्थित कुओं की सफलता तालाब से उसमें पानी भरने के अनुपात पर निर्भर है। इसलिए तालाब से गाद की सफाई और तालाब के जल ग्रहण क्षेत्र में मिट्टी की कटाई पर रोक बहुत महत्वपूर्ण है। इससे संपत्ति संबंधी अधिकारों और सामुदायिक संस्थाओं की जवाबदेहियों से जुड़े प्रश्न खड़े होते हैं। अगर पानी के बहाव के निचले इलाकों के किसानों को तालाब के क्षेत्र के कुंओं से निकले पानी का लाभ मिलता है तो ऊपर के इलाके के किसानों को जल ग्रहण क्षेत्रों के विकास के लिए कोई दिलचस्पी नहीं रहती। इसलिए तालाब के क्षेत्र के भूजल और बहते जल का उपयोग करने वालों की जवाबदेही बनती है कि तालाब का रखरखाव करें। मसलन, दो-तीन साल में तालाब की सफाई से न केवल तालाब की जल धारण क्षमता बढ़ती है बल्कि भूमिगत जल का भंडार भी बढ़ता है।

1 विवादों का निबटारा

साझा जल संसाधनों के उपयोग या दुरुपयोग पर बस्तियों या समुदायों के बीच विवादों का निबटारा सरकारी संस्थाओं के जरिये नहीं, बल्कि सामुदायिक संस्थाओं के जरिये होना चाहिए। निबटारे के सिद्धांत संबंधित समुदाय ही तय करें तो बेहतर, लेकिन व्यापक स्तर पर देखा जाए तो तटवर्तीय अधिकार एक जैसा सिद्धांत हो सकता है। लेकिन समुदायों द्वारा जल संचय के प्रयासों को हतोत्साहित करने की घटनाओं की निंदा की जानी चाहिए।

1 शासन के अधिकार

सरकार द्वारा प्रायोजित नदी घाटी प्राधिकरण को सरकारी जमीन में संचित और उपयोग से बचे पानी को बराबरी के आधार पर बेचने या आवंटित करने का अधिकार हो सकता है। यह प्राधिकरण पारंपरिक जल संचय संगठनों की राष्ट्रीय संस्था के साथ तालमेल से काम करेगा। परियोजना नियोजन और फसल उगाही का हिसाब-किताब ऐसा होगा कि ज्यादा-से-ज्यादा क्षेत्र उसके दायरे में आए। सरकार द्वारा उपलब्ध कराए गए पानी से सामुदायिक प्रणालियों को मदद मिलनी चाहिए, उन्हें किसी तरह का नुकसान नहीं पहुंचना चाहिए। नदी घाटी में स्थित प्रणालियों से जल का उपयोग करने वालों को उनके प्रबंधन के लिहाज से प्राथमिक इकाई मानना चाहिए। नदी घाटी प्राधिकरण जल उपयोग करने वालों के अधीन होना चाहिए।

1 जल संचय प्रणालियों में निवेश

पारंपरिक जल संचय प्रणालियों में निवेश की उपेक्षा अंग्रेजी राज की देन है। इन प्रणालियों को पुनर्जीवित करने के लिए जिस निवेश की जरूरत है वह समुदायों की क्षमता से बाहर है, क्योंकि ग्रामीण समुदायों के पास पैसे की कमी है। जहां ग्रामीण समुदाय अपनी जरूरतों को पूरा नहीं कर पाता वहां सरकारी पैसा जरूरी है। लेकिन सरकारी निवेश को स्थानीय समुदायों के हितों और निर्णयों के हिसाब से सावधानी से खर्च करने की जरूरत होगी। इसके अलावा निवेश की योजना व्यापक दृष्टिकोण से बनाई जानी चाहिए। यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि सभी जगहों का ग्रामीण समुदाय गरीब नहीं है। दरअसल, ग्रामीण समुदायों से संसाधन जुटाने की पिछली कोशिशें अपर्याप्त रही हैं। भविष्य में ऐसा नहीं होना चाहिए। ग्रामीण समुदायों से ही निवेश के यथासंभव संसाधन जुटाने की हरसंभव कोशिश होनी चाहिए।

1 मानव संसाधन

पारंपरिक और आधुनिक प्रणालियों की लागत और उनके लाभों के तुलनात्मक आंकड़ों की कमी है। इन आंकड़ों को जुटाने की जरूरत साफ दिखती है। एक आम धारणा यह है कि पारंपरिक प्रणालियों के लिए वित्तीय निवेश की जरूरत है। अगर प्रणालियों से संबंधित जायदादों का स्वामित्व और प्रबंधन उनके हाथ में हो तो समुदाय निवेश में साझीदारी को राजी हो सकते हैं।

पारंपरिक प्रणालियों का प्रबंधन सामुदायिक जीवन की दूसरी व्यवस्थाओं से अलग काटकर नहीं किया जा सकता। गांव के तमाम प्राकृतिक संसाधनों—भूमि, वन, जल और श्रम—का समग्र नियोजन जरूरी है। निवेश केवल ढांचों में ही नहीं, मानव संसाधनों में भी करने की जरूरत है। समुदायों से संवाद करने वाले और उनके लिए सरकार से बात करने वाले लोगों के प्रशिक्षण पर बड़े निवेश की जरूरत है।

1 सामुदायिक रखरखाव और सहायता

ढांचों के निर्माण और पुराने ढांचों को फिर से काम लायक बनाने के लिए पैसा यथासंभव समुदाय से ही आना चाहिए। अगर यह काम सामुदायिक स्तर पर किया जाता है, जिसमें सरकारी तथा बाहरी एजेंसियां सहयोग भर की भूमिका निभाती हैं, तो 25 प्रतिशत निवेश समुदाय से ही जुटाया जा सकता है। पैसा कैसे जुटाया जाए और लागत कैसे वसूली जाए यह सब समुदाय पर ही छोड़ा जा सकता है। परियोजना के हर स्तर पर समुदाय की भागीदारी होनी चाहिए। सरकारी सहायता जरूरी होगी, लेकिन उसका परिमाण समुदाय की जरूरतों और क्षेत्रीय विशेषताओं के आधार पर तय होना चाहिए। सहायता व्यक्तियों की जगह समुदाय को देने पर जोर दिया जाना चाहिए।

1 पारंपरिक प्रणालियों का प्रबंधन

पारंपरिक जल संचय प्रणालियों के प्रबंधन में प्रमुख भूमिका स्थानीय समुदाय की होनी चाहिए और सरकार की भूमिका कम-से-कम। सामुदायिक भागीदारी से ज्यादा जोर सामुदायिक परिचालन पर हो। इसका अर्थ सिर्फ यह नहीं है कि सरकार से प्राप्त जल संचय प्रबंधों का प्रबंधन समाज करे, बल्कि इनके नियोजन और क्रियान्वयन में भी उसकी भागीदारी हो।

पारंपरिक प्रणालियों के निर्माण और प्रबंधन के लिए सामुदायिक संस्थाएं बनाना टेढ़ी खीर है। इस वास्ते पूरे देश के लिए कोई समरूप मॉडल सुझाना या किसी मौजूदा संस्था को आदर्श बताना मुश्किल है। जहां भी संभव हो, आधुनिक संस्थाओं को प्रेरक संस्था के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। फिर भी हर हालत में नई तरह की सहभागी संस्थाएं बनानी होंगी। ऐसे सांगठनिक और संस्थागत स्वरूपों का ढांचा और उनके निर्माण की प्रक्रिया ऊपर से शुरू होने की जगह नीचे के स्तर से शुरू होनी चाहिए, लेकिन ऐसी संस्थाओं को वैधानिक समर्थन जरूरी है। देश के विभिन्न भागों के लिए उपयुक्त सांगठनिक स्वरूपों के निर्माण में इन कसौटियों का ध्यान रखना चाहिए—जल संचय की मौजूदा प्रणाली, इलाके की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सरकारी नीतियां और उनके प्रभाव, सामाजिक-राजनैतिक कारक, प्रणाली के

लिए जल की आपूर्ति-मांग के हिसाब-किताब के बारे में। चूंकि संबंधित जानकारियों और इनके आपसी संबंध के बारे में ठीक-ठीक पता नहीं है, इसलिए अभी और अनुसंधान की जरूरत है।

अंतिम उद्देश्य है बहते जल और भूजल के सम्मिलित प्रबंधन के लिए समुदाय आधारित संस्था बनाना। यहां तर्क दिया जा सकता है कि बहते जल की समुदाय आधारित व्यवस्था को सबसे ज्यादा खतरा भूजल के निजी दोहन से हो सकता है।

1 अपेक्षित लक्ष्य

अंग्रेजी राज से पहले और उसके दौरान भारतीय ग्रामीण समाज का जो भी स्वरूप रहा हो, आज कई गांव वर्ग और जाति के आधार पर बंटे हुए हैं। सामुदायिक सहभागिता, पानी के समान बंटवारे के लिए संस्था के निर्माण में जातिगत और वर्गगत आग्रहों से मुक्त प्रबंधन मुश्किल मगर आवश्यक लक्ष्य है। पारंपरिक जल संचय प्रणालियों के निर्माण और संचालन के वास्ते उपयुक्त संगठन बनाने में भी इन नियामकों का ख्याल रखा जाना चाहिए। उपयुक्त संगठन के निर्माण और उनके कामकाज के लिए दिशा-निर्देश और नियम बनाए जाने के बाद इन संगठनों को उन लोगों को दंडित करने का अधिकार दिया जाना चाहिए जो आचरण के मान्य नियम-मर्यादाओं का उल्लंघन करते हैं।

1 बस्तियों में संसाधनों की साझेदारी

पड़ोसी बस्तियों के साथ संसाधनों की साझेदारी के सामान्य दिशा-निर्देशों में नदी तटवर्ती लोगों के जल संबंधी अधिकारों को शामिल किया जाना चाहिए। संघर्ष की स्थिति में अंतर-ग्रामीण या अंतर-बस्ती शांति समितियों के जरिये उसे सुलझाना चाहिए। बात न बने तो अदालत का सहारा लेना चाहिए। यह अंतिम कदम है और इसे उठाने से बचने के हर प्रयास करने चाहिए।

1 समुदाय और सरकार में संबंध

सामुदायिक प्रबंधन और सरकार की भूमिका में संतुलन स्थितियों पर निर्भर करेगा। ऐसी व्यवस्थाओं में सरकारी हस्तक्षेप सिद्धांतत: बहुत कम होगा। कृषि के विकास के लिए सिंचाई का मकसद है—प्रणालियों का स्वावलंबी होना, जो सामुदायिक रखरखाव के दायरे में आ सकें। अगर स्वावलंबन के लिए प्रणालियों का पुन: संचालन अनिवार्य है तो कुछ हद तक सरकार के हस्तक्षेप की जरूरत होगी। इस हस्तक्षेप का अर्थ प्रणालियों पर समुदाय के अधिकार की जगह सरकार के अधिकार की स्थापना नहीं होना चाहिए।

पारंपरिक प्रणालियों के प्रबंधन और कामकाज को सुधारने में सरकारी भूमिका सलाहकार वाली होनी चाहिए। वह पारंपरिक प्रणालियों के प्रबंधन और ढांचों के सुधार में सलाहकार शाखा की तरह मदद करे। इस शाखा को पारंपरिक प्रणालियों के प्रबधंन और तकनीक के ताजा आंकड़े जुटाने, सूचनाएं देने और विस्तार सेवाएं देने की भूमिका भी निभानी चाहिए ताकि सिंचाई प्रबंधन में सुधार हो।

1 राष्ट्रीय संस्था

पारंपरिक जल संचय के ढांचों को पुन: उपयोगी बनाने के स्थानीय समुदायों के प्रयासों के समन्वय के लिए राष्ट्रीय संस्था बनाने की जरूरत है। लेकिन ढांचों के पुन: उपयोगी बन जाने के बाद उन पर समुदायों की जगह इस संस्था का नियंत्रण नहीं होने देना होगा। यह संस्था ज्यादा-से-ज्यादा एक शीर्ष संस्था की तरह प्रबंधन के सिद्धांत दिशा-निर्देशों की तरह दे सकती है और विभिन्न सरकारी विभागों में समन्वय का काम कर सकती है। पारंपरिक तरीकों से सफलतापूर्वक जल संचय के लिए अति दोहन रोकने के स्पष्ट कानून जरूरी हैं। नए सांगठनिक और संस्थागत तंत्र बनाने के वास्ते पारंपरिक प्रणालियों पर शोध के लिए भी यह संस्था पैसा दे और इन प्रणालियों के ढांचों में सुधार और विकास में भी सहायता करे।

1 जल आपूर्ति की देसी व्यवस्था

पारंपरिक प्रणालियों ने भारतीय गांवों और शहरों को सदियों से पानी मुहैया कराया है। आज भी हजारों गांव और कस्बे इन्हीं प्रणालियों पर निर्भर हैं। इन प्रणालियों ने उन इलाकों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है जहां भूजल खारा है या लोगों की वजह से प्रदूषित है। इनका पतन इसलिए हुआ है क्योंकि सरकार ने पाइप से पानी मुहैया कराना शुरू कर दिया। अक्सर इन प्रणालियों के बारे में नासमझी ने भी इन्हें समाप्त किया है। जब पाइपों में पानी आना बंद हो रहा है तो लोग हताश होकर पुरानी प्रणालियों को जीवित करने की कोशिश करते हैं। इन कोशिशों को भी सरकार हतोत्साहित करती है।

आजादी के बाद जिस तरह शहरीकरण हुआ है उससे भी पानी की कमी हुई है। पहले बस्तियां जल स्रोतों के पास ही बसती थीं। अब दूरदराज की बस्तियों तक पाइप से पानी पहुंचाना पड़ता है। इसमें पानी, बिजली आदि की बरबादी होती है। एक जल स्रोत सूख जाता है तो दूसरे की खोज की जाती है। बांध के जलाशयों को स्रोत बनाया जाता है तो उसके आसपास बसे लोगों को पानी के इस पलायन का कष्ट सहना पड़ता है। अगर भूजल को पंप करके निकाला जाता है तो जलस्तर घटता है और स्थानीय लोग कड़ा विरोध करते हैं।

1 समग्र नीति

भूमि उपयोग और क्षेत्र के प्रबंधन के लिए जल संबंधी समग्र घरेलू नीति अत्यावश्यक है। इसे क्षेत्र की सामान्य जल आपूर्ति व्यवस्था से अलग नहीं किया जाना चाहिए। गांव या शहर हर जगह के निवासी को समान माना जाना चाहिए। देश की शहरी और ग्रामीण जल नीति में जो दोहरापन है उसे समाप्त किया जाना चाहिए। खासकर इस धारणा को खत्म किया जाना चाहिए कि गांव में पानी की घरेलू जरूरतें कम हैं।

1 सरकार की भूमिका

पारंपरिक जल संचय प्रणालियां हमारे गांवों और शहरों की जरूरतें पूरी कर सकती हैं, बशर्ते उनका उपयोग यथावश्यक आधुनिक प्रणालियों के मेल के साथ किया जाए। लोगों की नजर में सरकार की छवि जल आपूर्ति की पारंपरिक तथा आधुनिक दोनों प्रणालियों को बढ़ावा देने वाली संस्था की होनी चाहिए, न कि पानी के दानकर्ता की। इसके लिए पानी का उपयोग करने वालों को भी इसके नियोजन और प्रबंधन में शामिल किया जाना चाहिए। सरकार की भूमिका तकनीकी सलाह देने और स्थानीय समुदाय को जरूरत पड़ने पर पैसा मुहैया कराने भर की होनी चाहिए। उनकी सफलता के लिए प्रणालियों के प्रबंधन में समुदाय की भागीदारी तथा उसमें अपनी जिम्मेदारी तथा स्वामित्व का एहसास होना चाहिए।

शुरुआती बजट में, जिसमें सरकारी एजेंसियों की सहायता होगी, भी प्रणालियों को समुदाय का समर्थन होना चाहिए। पानी का उचित उपयोग पारंपरिक प्रणालियों की संस्कृति में ही निहित है। इसे पानी की कमी वाले इलाकों में बढ़ावा दिया जाना चाहिए। पानी की कीमत में

लागत और अभाव जैसे कारकों का हिसाब जोड़कर भी इसे बढ़ावा दिया जा सकता है। वैसे, इस पर अंतिम फैसला समुदाय के ऊपर ही छोड़ देना चाहिए।

पारंपरिक प्रणालियों को फिर से चालू करने और उनका विकास करने के लिए समुदायों को प्रेरित और संगठित करने में स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका पर जोर देने की जरूरत है। स्कूल-कॉलेज के छात्रों के साथ स्थानीय युवाओं को इस काम से जोड़ा जा सकता है। पारंपरिक प्रणालियों और उनकी सार्थकता के महत्व के बारे में सरकारी अधिकारियों और तकनीशियनों को प्रशिक्षित करना महत्वपूर्ण है। यह तभी हो सकता है जब हम आधुनिक प्रणालियों की कमियों और विफलताओं को समझेंगे। वे इसलिए विफल होती हैं, क्योंकि बिजली की कमी होती है या पंप खराब हो जाते हैं या अति उपयोग के कारण जलस्रोत सूख जाते हैं। स्थानीय साधनों के उपयोग से चलने वाली उपयुक्त तकनीक के इस्तेमाल पर भी जोर दिया जाना चाहिए। बदलते सामाजिक परिवेश में बदलती मांगों के हिसाब से पारंपरिक तकनीक में परिवर्तन पर भी जोर दिया जाना चाहिए। लेकिन यह सब करते हुए यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्थानीय समाज विज्ञान और तकनीक के उन उपायों पर निर्भर न हो जाए जो विफल साबित हुए सरकारी कर्मचारियों की ओर से सुझाए जाते हैं।

1 वर्षा जल का संचय

यह महसूस किया गया कि स्थानीय स्तर पर वर्षा जल का संचय ठीक है, क्योंकि इसमें प्रदूषण नहीं होता। फिर, परिवहन का भारी खर्च बचता है। समुदाय के लिए दूर से पानी मंगवाने को निरुत्साहित करना चाहिए, खासकर तब जब इससे विभिन्न ग्रामीण समुदायों के बीच पानी का असमान बंटवारा होता है। पानी की उपलब्धता देखकर ही बस्तियां बसाई जानी चाहिए।

1 जल संरक्षण

घरों में पानी का पूरा सदुपयोग नहीं होता। 85-90 प्रतिशत पानी नालियों में बह जाता है। इसका शोधन करके सिंचाई में, भूमिगत जल भंडार को बढ़ाने में या पुन: घरों में उपयोग किया जा सकता है। दूरदराज से पानी लाकर आपूर्ति करने से पहले ऐसी संभावनाओं का पूरा पता लगाया जाना चाहिए। सिंचाई में जल स्रोतों का उचित उपयोग करने का एक और महत्वपूर्ण उपाय है ड्रिप और छिड़काव की पद्धति से सिंचाई करना।

1 समुदाय का दायरा

पारंपरिक जल संचय प्रणालियों में अक्सर बड़े जल ग्रहण क्षेत्र से बहने वाले पानी को जमा करके पीने का पानी के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। इन प्रणालियों के जल ग्रहण क्षेत्र में चाहे वह सरकारी जमीन का हिस्सा हो या न हो— कोई प्रदूषणकारी गतिविधि चलाई जा सकती है या नहीं, यह सामुदायिक संस्थाओं से पूछे बिना तय नहीं किया जाना चाहिए। उदयपुर के पास बिचड़ी गांव में एच-एसिड (काला रंग बनाने में काम आने वाला जहरीला रसायन) की फैक्टरी ने गांव के पूरे भूजल को प्रदूषित कर दिया है। कुओं में खून जैसे लाल रंग का पानी वर्षों तक अनुपयोगी रहेगा। फैक्टरी न लगाने की सामुदायिक गुजारिश बहरे कानों में खो गई। प्रदूषण के बाद पानी का दूसरा स्रोत उपलब्ध कराने के लिए सरकार ने कुछ नहीं किया। इस उदासीनता की भर्त्सना की जानी चाहिए और घरेलू जल स्रोतों को खतरा बनने वाले फैसलों में समुदाय की हिस्सेदारी के अधिकार का सम्मान किया जाना चाहिए।

इसके अलावा पारंपरिक जल संचय प्रणालियों पर बहुआयामी अनुसंधान की जरूरत है। देश के भिन्न-भिन्न जलवायु क्षेत्रों में चल रही इन प्रणालियों के सामाजिक, आर्थिक और प्रबंधकीय पहलुओं का गहन और व्यापक अनुसंधान जरूरी है। प्राचीन काल में पर्यावरण स्थिर नहीं था, लेकिन इस बारे में कम ही जानकारी उपलब्ध है कि लोग परिवर्तनों के साथ तालमेल कैसे बिठाते थे। इसे समझने के लिए हरेक कृषि जलवायु क्षेत्र का सूक्ष्म अध्ययन करना होगा।

यहां यह जोर देना महत्वपूर्ण है कि अनुसंधान के औजारों में भी संशोधन जरूरी है, क्योंकि लोगों के ज्ञान के भंडार को श्रेणीबद्ध करने में वे शायद उपयुक्त न हों। एक उदाहरण देश के विभिन्न भागों में जल स्रोतों का पता लगा लेने वाले लोगों का है। ये लोग बता देते हैं कि पानी कितनी गहराई पर मिलेगा। आज उनके दावों की जांच किए बिना उन्हें खारिज करने की प्रवृत्ति है। दूसरा उदाहरण लागत-लाभ का हिसाब लगाने के रूढ़ तरीके का है, जो सांस्कृतिक नियामकों या पानी के अभाव के प्रति समाज के नजरिये का ख्याल नहीं करता। परियोजना आकलन के तरीके भी सुधारने होंगे।

आधुनिक और पारंपरिक तकनीक के मेल के लिए यथार्थपरक आंकड़े (मसलन भूजल के बारे में) जुटाने होंगे। अभी तो, जो चल रहा है वही चलाया जा रहा है। अतीत और वर्तमान में बड़ी और छोटी प्रणालियों के बीच संबंध की कोई जानकारी नहीं है, पारंपरिक प्रणालियों के संचालन और रखरखाव में महिलाएं बड़ी भूमिका निभाती हैं, लेकिन अनुसंधानों में उनका उल्लेख नहीं मिलता।

पारंपरिक प्रणालियों के हर पहलू पर शोध और विकास में सरकारी पैसा लगाया जाना चाहिए। पहले कदम के तौर पर देश भर में विभिन्न प्रणालियों के स्थानीय नाम और उनका ब्यौरा जमा करने और श्रेणीबद्ध करने की जरूरत है।

अनिल अग्रवाल,
जी. डी. अग्रवाल,
राकेश अग्रवाल,
रजत बनर्जी,
बी. सी. बाराह,
पी. के. छोटरॉय,
ईश्वर दायतोता,
धर्मपाल,
एस. के. धावलीकर,
डुंगलेना,
ए. अली फिरदौसी,
हरनाथ जगावत,
अनिल कुमार,
अनुपम मिश्र, अमित मित्र,
एस. एम. मोहनोत,
आर. के. मुखर्जी,
एम. जी. नागराज,
सुनीता नारायण,
डी. एन. नारायण,
बी. एम. पांडे,
यू. सी. पांडे,
गणेश पंगारे,
गणेश प्रसाद काला,
पी. एस. रामकृष्णन,
एम. एस. राठौड़,
अनुमिता रायचौधरी,
वी. बी. सालुंके,
निर्मल सेनगुप्ता,
अंजु शर्मा, राजेन्द्र सिंह,
के. ई. श्रीधरन,
एम. एस. वानी,
रोहन विक्रमसिंघे